॥ श्रीहरिः ॥

375▲

वर्तमान शिक्षा

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

वर्तमान शिक्षा

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

वर्तमान शिक्षा

वर्तमान शिक्षित नवयुवकोंके आचरणों और कार्योंको देखकर दुःखी हुए कितने ही सज्जनोंने मुझसे इस विषयपर कुछ लिखनेके लिये अनुरोध किया है; इनमें कई सज्जन तो स्वयं भुक्तभोगी हैं, लड़के-लड़कियोंके पढ़नेमें गाढ़ी कमाईका पैसा खर्च करके आज वे उनको दूसरे ही ढाँचेमें ढले देखकर दुःखी हो रहे हैं। अपने शिक्षित पुत्र-कन्याओंका जीवन विलासी, खर्चीला, अकर्मण्य और धर्मशून्य देखकर वे बेचारे मर्माहत होकर कई बातें पूछते हैं। उनके समाधानके लिये यथासाध्य कुछ बातें उन्हें लिख दी जाती हैं, परंतु यह रोग तो अब इतना व्यापक हो गया है कि जो छूटना असम्भव-सा जान पड़ता है। गुण-दोष सभी कार्योंमें होते हैं। इस समय इस शिक्षामें भी कुछ गुण अवश्य हैं और उनसे लाभ भी पहुँचा है, परंतु ध्यान देकर तौलनेपर लाभकी अपेक्षा हानिका ही पलड़ा अधिक नीचा दिखायी देता है। पहले तो मोहवश सोचा नहीं, परिणामपर ध्यान दिया नहीं, अब, जबकि चारों ओर इस शिक्षाके साँचेमें ढले हुए लोगोंकी संख्या बढ़ गयी और उनकी चेष्टासे जबकि चारों ओर शिक्षाकी प्रगतिके नामपर इसका विस्तार करनेवाले स्कूल-कॉलेज बढ़ गये, दृष्टिकोण बदल जानेसे लाखों नर-नारी इस शिक्षाको परम लाभकारी समझकर सम्मानकी दृष्टिसे देखने लगे, तब ध्यान देनेसे कुछ विशेष लाभकी आशा नहीं रही! अब तो इस रोगकी जड़ बहुत दूर-दूरतक फैल गयी है और जबतक

इसके विषमय कुफलोंसे भलीभाँति हमारा समाज जर्जरित होकर निरुपाय हो भगवान्‌की शरण नहीं हो जायगा, तबतक इससे मुक्त होना बहुत ही कठिन है। विश्वविद्यालयोंके दीक्षान्त भाषणोंमें इस शिक्षापद्धतिके कुफलपर प्रायः बहुत कुछ कहा जाता है। इस पद्धतिको सत्यसे दूर, बेकारी पैदा करनेवाली, धर्महीन और विलासिताको बढ़ानेवाली बतलाया जाता है, परंतु फल कुछ नहीं होता। कारण समक्ष है, परिणाम देखकर उन लोगोंको कहना तो पड़ता है लेकिन दृष्टिकोण वही बना रहनेके कारण पुनः-पुनः विचार करनेपर भी उन्हें इसीमें लाभ दीखता है और अनेक कारणोंसे इसकी आवश्यकता भी प्रतीत होती है, अतएव कोई क्रियात्मक सुधार नहीं होता। दिनोंदिन शिक्षालयोंकी, शिक्षितोंकी और शिक्षार्थियोंकी संख्या बढ़ती जाती है और उसीके साथ-साथ समाजशरीरमें रोगके परमाणुओंका प्रवेश भी होता जाता है, परंतु उपाय कुछ भी नहीं सूझता। ऐसी हालतमें केवल शिक्षाके दोषोंपर ही आलोचना करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं दिखलायी देता। जो लोग दृष्टिकोणके भेदसे इस शिक्षासे परम लाभ समझते हैं, उनपर भी दोष नहीं दिया जा सकता; क्योंकि वे ऐसा ही देखते हैं। न किसीको उलाहना देने या किसीका तिरस्कार करनेसे ही कोई सुफल होनेकी सम्भावना दीखती है। इतनेपर भी जो कुछ लिखा जाता है, सो केवल मित्रोंके आग्रहपूर्ण आज्ञापालन करनेके लिये ही अपने मतमें जो-जो कुछ ठीक जँचता है, लिखा जाता है। किसी व्यक्तिविशेषपर कोई आक्षेप करनेकी नीयतसे नहीं। भाषामें कहीं कटुता आ जाय तो उसके लिये पहलेहीसे मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

शिक्षाका यथार्थ उद्देश्य

आर्यसभ्यताके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य है उसके द्वारा इहलोकमें सर्वांगीण (शारीरिक, मानसिक, साम्पत्तिक और नैतिक) अभ्युदय और परलोकमें परम नि:श्रेयस—मोक्षकी प्राप्ति। ऋषियोंकी दृष्टिमें विद्या वही है जो हमें अज्ञानके बन्धनसे विमुक्त कर दे—'**सा विद्या या विमुक्तये।**' भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें '**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्**' कहकर इसी सिद्धान्तका समर्थन किया है। इसी उद्देश्यसे आर्यजातिके पवित्रहृदय और समदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषियोंने चार आश्रमोंकी (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासकी) सुन्दर व्यवस्था की थी। ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंका पालन करता हुआ ब्रह्मचारी विद्यार्थी संयमकी व्यावहारिक शिक्षाके साथ-ही-साथ लौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी विद्याओंको पढ़कर, सब प्रकारसे शरीर, मन और वाणीसे स्वस्थ एवं संयमी होकर गुरुकुलसे निकलता था और तब वह गृहस्थमें प्रवेश कर क्रमशः जीवनको और भी संयममय, सेवामय और त्यागमय बनाता हुआ अन्तमें सर्वत्याग करके परमात्माके स्वरूपमें निमग्न हो जाता था। यही आर्यसंस्कृतिका स्वरूप था। जबतक देशमें यह आश्रमसम्मत शिक्षापद्धति प्रचलित थी, तबतक आर्यसंस्कृति सुरक्षित थी और सभी श्रेणीके लोग प्रायः सुखी थे। जबसे अनेक प्रकारकी विपरीत परिस्थितियोंमें पड़कर मोहवश हमने अपनी इस आश्रमसम्मत शिक्षापद्धतिको ठुकराया, तभीसे हमारी आदर्श आर्यसंस्कृतिमें विकार आने लगे। आज बीसवीं शताब्दीमें तो हमारी उस संस्कृतिकी सुदृढ़ नौका हमारे

ही हाथों नष्ट-भ्रष्ट होकर डूबने जा रही है। ऐसा मतिभ्रम हुआ है कि विनाशके गहरे गर्तमें गिरना ही आज हमारे मन उन्नतिका निदर्शन हो गया है। जिस चोटी और जनेऊको मुसलमानोंकी तलवार नहीं काट सकी, उसीको आज हम शिक्षाभिमानी हिंदू स्वयं ही उन्नतिके नामपर कटवा रहे हैं। अग्निकुण्डकी लाल-लाल लपटोंमें पड़कर भी हिंदूनारीके जिस सतीत्वको जरा-सी आँच नहीं लगी, वरं उससे वह और भी चमक उठा, वही सतीधर्म आज शिक्षाके फलस्वरूप हमारी बहिन-बेटियोंके लिये भाररूप हो चला है और उसको उतार फेंकनेके लिये चारों ओर सुसंगठितरूपसे कमर कसी जा रही है। जिस धर्म और ईश्वरको हमने अपने समाजशरीरका मेरुदण्ड समझ रखा था, आज उसी धर्मकी आवश्यकता और ईश्वरके अस्तित्वको अपने शिक्षितसमुदायके सामने स्वीकार करनेमें हमारे शिक्षित युवकोंको संकोच और लज्जाका अनुभव होता है। मानो वे किसी मूर्खतापूर्ण कुसंस्कारका समर्थन कर अपनी विद्वत्तामें बट्टा लगा रहे हैं अथवा कोई गुरुतर अपराध कर रहे हैं। कामोपभोग ही आज हमारे जीवनका चरम लक्ष्य बन गया है। कामपरायण होकर आज हम अदूरदर्शी शिक्षाभिमानी लोग आपात इन्द्रियसुखको ही परम सुख समझकर अग्निशिखामें पड़कर भस्म हो जानेवाले मूढ़ पतंगोंकी भाँति कामाग्निमें भस्म होनेके लिये अन्धे होकर उड़ने लगे हैं। इसमें युगप्रभाव तो प्रधान कारण है ही। परंतु उसकी सिद्धिमें एक बड़ा निमित्त है हमारी यह वर्तमान धर्महीन शिक्षापद्धति। इस शिक्षाके पीछे एक जबरदस्त 'संस्कृति' की प्रेरणा है, जिसने हमारी आँखोंको चौंधिया दिया है और इसीसे हम आज मायामरीचिकामें

फँसकर उसे अपनानेके लिये बेतहाशा दौड़ लगा रहे हैं और इसीसे आज हम अपने सरलहृदय बालक-बालिकाओंके हृदयमें कामोपभोगमयी उस 'सभ्यता' का भीषण विष प्रवेश कराकर उन्हें ध्वंसके मुखमें ढकेल रहे हैं और इसीमें उनका और अपना कल्याण मान रहे हैं। जिन देशोंकी यह 'सभ्यता' है, वे तो आज तंग आकर इससे मुक्त होनेकी राह ढूँढ़ने लगे हैं और हम भाग्यहीन उसीको अपनानेके लिये आँख मूँदे दौड़ रहे हैं!! भगवान् हमारी बुद्धिका यह विभ्रम कब दूर करेंगे?

वर्तमान शिक्षासे उत्पन्न दोष

आजकलके कॉलेजोंमें पढ़नेवाले अधिकांश विद्यार्थियोंमें न्यूनाधिकरूपसे—क्रियारूपमें अथवा विचाररूपमें आपको निम्नलिखित दोष प्रायः मिलेंगे, जो विद्यार्थी—ब्रह्मचारी-जीवनसे सर्वथा प्रतिकूल हैं।

१-ईश्वर और धर्ममें अविश्वास।

२-संयमका अभाव।

३-ब्रह्मचर्यका अभाव।

४-माता-पिता आदि गुरुजनोंमें अश्रद्धा।

५-प्राचीनताके प्रति विद्वेष।

६-विलासिता और फिजूलखर्ची।

७-खेती, दूकानदारी और घरेलू कलाकौशलके कार्योंके करनेमें लज्जा। और—

८-सरलताका अभाव।

इनको कुछ विस्तारसे देखिये।

१-'ईश्वर मनुष्यकी कल्पना है।' 'ईश्वरकी चर्चा करना समय नष्ट करना है।' 'ईश्वरको किसने देखा है?' 'धर्म ढोंग है।' 'स्वार्थी मनुष्योंने भोले लोगोंको ठगनेके लिये ईश्वर और धर्मका वहम रचकर लोगोंको डरा रखा है।' 'धर्म एक कुसंस्कार है।' आदि बातें आजका शिक्षित मनुष्य बड़े गर्वसे कहता है। इन विचारोंको माननेवाला होनेपर भी जो कुछ साधुहृदयका होता है और दूसरोंकी मान्यताको ठुकराकर उनके हृदयको ठेस नहीं पहुँचाना चाहता, वह बड़ी बुद्धिमानीके साथ मानो मूर्खोंको समझाता हुआ-सा कहता है—'होगा ईश्वर, हम उसका विरोध नहीं करते। परन्तु वह किसीको दीखता थोड़े ही है। परन्तु सारा जगत् जब ईश्वरसे पूर्ण है तब जगत्की सेवा ही ईश्वरकी सेवा है, अतएव भजन-पूजनमें व्यर्थ समय न बिताकर जनताकी सेवा करनी चाहिये। गीतामें भी तो सर्वभूतस्थित भगवान्को अपने कर्मोंसे पूजनेकी बात कही गयी है।' यों समझानेवाला स्वयं तो भगवान्को नहीं मानता, परन्तु अपनी बुद्धिमानीका प्रयोग करके ईश्वरका प्रत्यक्ष खण्डन न कर परोक्षरूपसे भजन-पूजनरूपी कार्योंको व्यर्थ सिद्धकर मानो ईश्वरसम्बन्धी कुसंस्कारोंसे हमें मुक्त करनेके लिये इस युक्तिवादसे काम लेता है। वह इस बातको नहीं समझता कि सच्ची भगवदनुभूतिके बिना—जीवमें शिवके दर्शन किये बिना यथार्थ सेवा कभी बन ही नहीं सकती। जो सेवा अहंकारकी जननी है, वह तो सेवा ही नहीं है और शिव-ज्ञानशून्य सेवासे तो अहंकार ही उत्पन्न होगा। शिवहीन यज्ञका परिणाम तो सर्वध्वंस ही होगा। इस प्रकार ईश्वर और धर्मकी अवहेलना धीरे-धीरे उच्छृंखलता और यथेच्छाचारकी वृद्धि हो रही है; परंतु इसीको उन्नति समझा जाता है।

२-संयम तो किसी बातमें भी नहीं दिखायी देता। बोल-चाल, हँसी-मजाक, रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, सोना-उठना, आचार-विचार—सभीमें मनमानी होती है। शिष्टाचारका आदर नहीं। जबानपर लगाम नहीं। कुछ वर्षों पहले एक बार मैं पटनेसे स्टीमरमें आ रहा था। उसी स्टीमरमें कॉलेजके विद्यार्थियोंका एक दल सवार हुआ, कुछ नववयस्क अध्यापक भी साथ थे। वहाँ उनका जो हँसी-मजाक शुरू हुआ, वह सभ्यताकी सीमाको पार कर गया। पास ही कुछ भद्रमहिलाएँ बैठी थीं। वे लज्जासे सिकुड़ने लगीं, परंतु बाबुओंका इस ओर ध्यान ही नहीं था। मालूम होता था मानो उनके मन स्टीमरमें दूसरा कोई है ही नहीं। गंदी भाषा, गंदे इशारे, सामूहिक विकट हास्य, चिल्लाना और कुत्ते-बिल्लीकी बोली बोलना कुछ भी बाकी न रहा। एक बूढ़े मौलवी साहेबने तंग आकर जब उनको कुछ समझानेकी चेष्टा की तो उन बेचारेकी शामत आ गयी। दल-का-दल उनकी दाढ़ी, चश्मे और अचकनकी दिल्लगी उड़ाने लगा। ज्यों ही मौलवी साहेब कुछ बोलते त्यों ही हँसीका भयानक बवंडर उठता। आखिर बेचारे मौलवी साहेबको वहाँसे उठकर दूसरी ओर चले जाना पड़ा। खान-पानमें तो कोई विचार ही नहीं, कैसी ही चीज हो, किसीकी जूठन हो, जिस रकाबीमें खाँ साहेबके लिये अभी गोमांस आया, उसीमें दूसरे ही क्षण बाबूसाहेबके लिये पकौड़ियाँ आ गयीं। सोडावाटरकी बोतल तो मानो एक माँके कई बच्चोंके लिये माँका स्तन-सी ही बन गयी है। किसीकी जूठन खानेमें कोई झिझक नहीं। एक दिन मैंने एक रेलवे स्टेशनपर देखा, कुछ विद्यार्थी नवयुवक चप्पल पहने,

चश्मा चढ़ाये, पंजाबी कुरतेपर जाकेट पहने, ठहाका मारते और उछलते हुए आये और एक जनाना डब्बेके सामने एक खोनचेवालेके पास खड़े होकर तरह-तरहकी गंदी बातें करने लगे, मानो उनके घर माँ-बहिन हैं ही नहीं; फिर उनमेंसे एकने खोनचेवालेसे दहीबड़े खरीदे, दूसरेने पकौड़ियाँ लीं और फिर लूटखसोट शुरू हुई। एकका जूठा दूसरेके मुँहमें ठूँसा जाने लगा। हँसीके मारे सब पसीने-पसीने हो रहे थे। इतनेमें चाय-बिस्कुट और न मालूम क्या-क्या मुसलमान खोनचेवालोंसे खरीदा गया। भक्ष्याभक्ष्यका और आचारशुद्धिका कुछ विचार ही नहीं। इस तरहकी घटनाएँ प्राय: रोज ही होती हैं।

घरमें गरीबी है, पिता बड़ी मुश्किलसे खर्च भेज पाते हैं; परंतु बात-बातमें बाबूगिरी चाहिये; और चीजोंकी बात तो दूर रही, जूतेकी भी तीन-तीन जोड़ियोंके बिना काम नहीं चलता! बाहर जानेके लिये अलग, टेनिसके लिये अलग और कमरेके लिये चट्टी अलग! कहीं भी किसी भी बातमें आत्मसंयमकी गुंजाइश नहीं। कहाँ तो गुरुकुलवासी विद्यार्थियोंके छात्रजीवनको संयमित रखनेके लिये मनु महाराज इन नियमोंका विधान करते हैं—'ब्रह्मचारी प्रतिदिन नहाकर शुद्धभावसे देवर्षि-पितृतर्पण करे, देवताओंकी पूजा करे, सुबह-शाम हवन करे, मद्य-मांसका सेवन न करे, इत्र-फुलेल न लगावे, हार-माला आदि न पहने, रस न खाय, स्त्रीके पास न जाय, उत्तेजक वस्तु न खाय, प्राणिहिंसा न करे, तेल न लगावे, आँखोंमें सुरमा न डाले, जूते न पहने, काम, क्रोध, लोभके वश न हो, अकेला सोवे। नाचना, गाना, बजाना, जूआ आदि खेलना, कलह करना, दूसरोंकी बातें जानना, असत्य

बोलना, दूसरोंका अहित करना, स्त्रियोंकी ओर देखना, उनका आलिंगन करना आदि बातोंसे बचा रहे।' और कहाँ आज उनमें इन नियमोंके सर्वथा विपरीत सूर्योदयके बाद उठना, चाय पीकर पीछे स्नान करना, देवर्षि-पितरोंका मजाक उड़ाना, अभक्ष्य खाना, सेंट लगाना, सिनेमा देखना, गंदे उपन्यास पढ़ना आदि संयमका नाश करनेवाली बातें बढ़ी हुई हैं।

३-बड़े ही खेदकी बात है कि इस विषयमें तो आज हम सबसे बढ़कर पतित हो चले हैं। पाठ्यपुस्तकोंमें खुला श्रृंगार, गंदे नाटक-उपन्यासोंका पढ़ना, यौनसाहित्यका प्रचार, विलासितापूर्ण रहन-सहन, अनुभवहीन असंयमी युवक-अध्यापकोंका संग, सहशिक्षाका प्रचार, भोगोंकी लीलाभूमि पाश्चात्यपद्धतिके विद्यालय और होस्टल एवं परस्पर गंदे पत्र-व्यवहारकी कुचाल, मनमें खामखाह विकार पैदा करनेवाले चटकीले चित्रपट आदि वस्तुएँ हमारे विद्यार्थियोंके उच्छृंखल जीवनको दिनोंदिन और भी उच्छृंखल बना रही हैं। मुझे एक बहुत विश्वस्त सज्जनने बतलाया था कि शिक्षाक्षेत्रमें सबसे बढ़कर अग्रसर प्रान्तकी युनिवर्सिटीके विद्यार्थियोंमें लगभग आधेसे अधिक जननेन्द्रियसम्बन्धी रोगोंसे ग्रस्त हैं। जातीय जीवनके आधार नवयुवकोंकी यह दुर्दशा निस्सन्देह खूनके आँसू बहानेवाली है।

४-माता-पिता आदि गुरुजनोंको मूर्ख समझना, उनके कार्योंमें दोष देखना, कर्तव्यवश या अच्छा कहलानेके लिये शरीरसे उनकी कुछ सेवा करते हुए भी उनकी बुद्धिका अनादर करना आजकलके पढ़े-लिखे लोगोंका स्वभाव-सा बन गया है। घरमें जहाँ नित्य बड़े-बूढ़ोंके चरणोंमें प्रणाम करनेकी आर्यप्रथा

थी, वहाँ आज उनकी संतान कहलानेमें भी किसी-किसीको लज्जाका अनुभव होता है। एक पढ़े-लिखे भाईने एक बार मुझसे कहा था कि 'इन मूर्खोंका बेटा-पोता न होकर स्वतंत्र विचारवाले देशोंमें मेरा जन्म हुआ होता तो आज मैं कितना सौभाग्यशाली होता।' यद्यपि ऐसे विचार बहुत ही थोड़े ही युवकोंमें होंगे। परंतु माता-पिता आदिके विचारोंमें तो श्रद्धा बहुत ही कम रह गयी है। बल्कि उनकी अवज्ञा करनेमें ही कहीं-कहीं उन्नति मानी और बतलायी जाती है। जो माता-पिता जन्म देते हैं, पालते-पोसते हैं, कष्ट उठाकर पढ़ाते हैं, उन्हींको जब पुत्र मूर्ख मानता है और उनके विचारों एवं वचनोंका अनादर कर उन्हें संताप पहुँचाता है, तब उन माता-पिताके हृदयोंमें कैसी मर्मभेदी व्यथा होती है, इसका अनुमान उन पुत्रोंको कभी नहीं हो सकता। मेरे सामने एक बार एक पिताने जब रो-रोकर अपना दुःख सुनाया था तब मेरी आँखोंमें भी आँसू आ गये थे।

५-एक बार एक मेरे नवयुवक मित्रने कहा था कि हम तो पुराने मात्रका ध्वंस करके सब कुछ नवीन निर्माण करना चाहते हैं। वेद-पुराण, कुरान-बाइबिल किसीको भी हम नहीं मानते। ऐसी मनोभावना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे नवयुवकोंके हृदयोंमें उत्पन्न होने लगी है। इसीसे वे सुधारके नामपर संहार करना चाहते हैं। प्राचीनताके प्रति ऐसा अविवेकमूलक विद्वेष और नवीनताका यह प्रबल आकर्षण इस शिक्षाका ही फल है।

६-कॉलेजके पढ़नेवाले विद्यार्थीका औसतन मासिक खर्च आजकल लगभग ५०.०० रु० माना जाता है। बम्बई-सरीखी

जगहोंमें इससे कहीं अधिककी आवश्यकता होती है। कॉलेज और उनके छात्रावासोंका निर्माण ही इस ढंगसे हुआ है—उनकी पद्धति और आदर्श ही इतना खर्चीला है कि जहाँ इससे कम खर्चमें रहना विद्यार्थी अपनी बेइज्जती समझता है। इनमें फैशन तो इतना बढ़ जाता है कि जितना खर्च उनके फैशनमें होता है, उतनेमें दो-तीन गरीब गृहस्थोंका गुजर हो सकता है। तरह-तरहके जूते, जूते रँगनेकी स्याही, विलायती दन्तमंजन, आइना, कंघी, ब्रश, रिष्टवाच,—क्रिकेटके लिये फलालैनका सूट, टेनिसके लिये पतलून और ब्लेजर, होटलोंका जलपान, सैलूनोंकी हजामत, कम्पनियोंकी कपड़ा धुलाई, नये-नये नावेल, दोस्तोंको दावत, प्रेमियोंको प्रेमोपहार, सिनेमा, मैच आदि-आदि न मालूम कितनी फैशनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेमें उन्हें आँख मूँदकर धन खर्च करना पड़ता है। विद्यार्थियोंके गरीब माता-पिता गहने बेचकर, घर-द्वार बंधक रखकर, भीख माँगकर बड़ी आशासे बच्चोंको पढ़ानेके लिये खर्चका यह भारी बोझ उठाते हैं। परंतु वहाँ एक-दूसरेकी देखा-देखी कॉलेजके विद्यार्थीको इस बातकी चिन्ता ही नहीं होती कि घरमें माता-पिताका क्या हालत है। कभी छुट्टियोंमें घर आना होता है तो विवाहित युवक बीबियोंके लिये तरह-तरहके शौकके सामान लाना चाहते हैं, उसके लिये माता-पिताको अलग तंग होना पड़ता है। पुत्र नाराज न हो, उसके मनमें दुःख होगा तो वह फेल हो जायगा, इस डरसे माता-पिता जहरकी घूँट पी जाते हैं, परंतु घर आये हुए पुत्रके सामने अपना दुःख कभी प्रकट नहीं करते। घर आकर कॉलेजके विद्यार्थी घर-गृहस्थीकी तो बात ही क्यों पूछने लगे? क्यों वे

घरके मोटे-सोटे काममें मन लगाकर माता-पिताको सहायता देने लगे? मित्रोंसे मिलना-जुलना, हँसी-मजाक, प्रेमपत्र, ताश-शतरंज, कलेवा-जलपान आदिमें ही उनका समय बीत जाता है। माता-पिता इसी आशापर यह सब सह लेते हैं कि बेटा पास होकर हमें कमाकर देगा। गाँवके उन गरीब माता-पिताको क्या पता कि अभी जिस बेटेको पढ़ानेकी नीयतसे उसकी उचित-अनुचित माँगका कुछ भी विचार न करते हुए ही हृदयका खून दे-देकर खर्च जुटाकर भेजते हो, वही जब पढ़कर—पास होकर आवेगा, तब तुमलोगोंको मूर्ख समझेगा और यदि कहीं नौकरी न लगी तो परिवारभरको और भी मुश्किलमें पड़ना होगा।

गरीबका गुजर ऐसी अर्थनाशक शिक्षासे कैसे होगा, भगवान् ही जाने।

७-मैंने देखा है परीक्षोत्तीर्ण लड़के घरकी खेतीका काम नहीं कर सकते, वे दुकानदारी नहीं कर सकते। सुनार, कुम्हार या चमारका पढ़ा-लिखा लड़का अपने घरकी कारीगरीका काम करनेमें अपनी तौहीनी समझता है। ऑफिसकी नौकरीके सिवा वे सभी कामोंमें प्रायः असमर्थ हो जाते हैं। झूठे आत्माभिमानके वश होकर अपना काम अपने हाथों करनेमें उन्हें शरम मालूम होती है। बाजारसे दो-चार सेर चीज खरीदकर लानेमें उन्हें कुलीकी जरूरत होती है। बोझ लाना उन्हें अपनी शानके खिलाफ जँचता है। घरमें झाड़ू देना, कपड़े धोना आदि कार्य करनेमें तो लाज मानो मूर्तिमान् होकर खड़ी हो जाती है। घरका काम तो अलग रहा कई लोगोंको तो असभ्य-से लगनेवाले

माता-पिता और बहिन-भाइयोंके साथ रहनातक बुरा मालूम होता है! सच पूछिये तो इसी कारण आजकल बेकारी भी ज्यादा बढ़ रही है। सभीको नौकरी चाहिये। झूठी इज्जतके मोहमें खर्च बढ़ा ही रहता है। परिणाममें आत्महत्याकी नौबत आती है। किसी कारीगर या मजदूरने आत्महत्या की हो ऐसी बात शायद नहीं सुननेमें आती। आत्महत्या बेकार बाबू ही करते हैं, जो नौकरी और वकीली आदिके सिवा अन्य काम नहीं कर सकते। उनको हेय दृष्टिसे देखते हैं। इस मनोभावनाको लिये हर साल विश्वविद्यालयोंसे हजारों विद्यार्थियोंका पास होकर निकलते रहना भविष्यमें बेकारीका कैसा भयंकर रूप सामने लावेगा और उसका परिणाम कितना भयंकर होगा, यह कौन कह सकता है?

८-हमारे बड़े-बूढ़ोंमें जितना निष्कपट भाव है, हमलोगोंमें उतनी ही कपट-चातुरी आ गयी है। पुराने लोग शत्रुको शत्रु कहेंगे और मित्रको मित्र, परंतु आज ऊपरसे मित्र कहते रहकर भी भीतरसे हम शत्रुताका बर्ताव करेंगे। कपटपूर्ण मैत्री, मधुर वचनोंके पीछे छिपी हुई कठोरता आजकी सभ्यताका एक अंग-सी बन गयी है। सरलताका नाम आज मूर्खता है और मक्कारीका बुद्धिमत्ता।

स्त्री-शिक्षा

पुरुषोंकी भाँति ही स्त्री-शिक्षाका भी काफी प्रचार बढ़ रहा है। पुरुषोंमें शिक्षा बढ़नेके साथ-ही-साथ हमें स्त्री-शिक्षाकी भी आवश्यकता प्रतीत हुई। स्त्रियोंके लिये विद्यालय, स्कूल और कॉलेजोंकी स्थापना हुई, स्त्री-शिक्षाका भी वही आदर्श माना

गया जो पुरुषोंके लिये था, क्योंकि दृष्टिकोण ही ऐसा था। उच्च शिक्षा होनी चाहिये और उच्च शिक्षाका अर्थ ही है कॉलेजोंकी शिक्षा, बी० ए०, एम० ए० की डिग्री प्राप्त करना, वकालत या डॉक्टरी पास करना। स्त्रियाँ भी इसी पथपर चलीं और चल ही रही हैं। वे भी पढ़-लिखकर अध्यापक, मास्टर, कलर्क, वकील, बैरिस्टर, लेखिका, नेता, म्युनिसिपलिटी या कौंसिलोंकी मेम्बर बन रही हैं। यही उन्नतिका स्वरूप है। चारों ओर इस उन्नतिके लिये उल्लास प्रकट किया जा रहा है और यह उन्नति पूर्णरूपसे हो जाय इसके लिये अथक चेष्टा हो रही है। ऐसी स्त्री-शिक्षा देनेवाले स्कूल-कॉलेजोंकी और विद्यार्थिनियोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। शिक्षाके साथ-साथ शिक्षाके अवश्यम्भावी फलरूप उपर्युक्त दोष स्त्रियोंमें भी आ रहे हैं। वे भी ईश्वर और धर्मका विरोध करने लगी हैं। सरलता, कोमलता, श्रद्धा, संकोच, प्राचीनतासे प्रेम आदि स्वाभाविक गुणोंके कारण यद्यपि पुरुषोंकी तरह ईश्वर और धर्मका खुला और आत्यन्तिक विरोध करनेवाली स्त्रियाँ अभी नहीं पैदा हुई हैं, परंतु सूत्रपात हो चला है। संयमका अभाव भी बढ़ रहा है। पुरुषोंकी अपेक्षा स्वभावसे ही स्त्री कई बातोंमें अधिक संयमी होती हैं, इससे उसकी इधर प्रगति यद्यपि रुक-रुककर होती है, परंतु उसका देखा-देखी करनेका स्वभावदोष उसे असंयमकी ओर खींचे लिये जाता है। इसीसे आज शिक्षित स्त्रियोंमें असंयमकी मात्रा बढ़ रही है। जिस बातको मनमें लानेमें भी स्वभावसे ही शुद्ध और लज्जाशील स्त्रीका हृदय काँप उठता था। आज वही बात पुकार-पुकार कहनेमें उसे लज्जा नहीं आती। परपुरुषोंसे पत्रव्यवहार करने, उनके साथ हँसी-मजाक

करने, परपुरुषोंके साथ ताश-शतरंज खेलने और नाचने आदिमें भी संकोच उठता जा रहा है। ब्रह्मचर्यका अभाव तो भीषणरूपसे हो रहा है। कुछ दिनों पूर्व लाहौरके एक सुधारक पत्रमें लड़के-लड़कियोंकी सहशिक्षाके विरोधमें एक जिम्मेदार सज्जनका लिखा हुआ एक लेख निकला था जिसमें लिखा था कि……की लेडी हेल्थ ऑफिसरकी घोषणाका स्वाध्याय किया जाय जो उन्होंने……के विद्यालयोंमें पढ़नेवाली विद्यार्थिनियोंके स्वास्थ्यकी देख-भाल करके की है कि बारह वर्षके ऊपरकी आयुवाली क्वारी लड़कियोंमेंसे ९० प्रतिशतके लगभग आसवती (गर्भवती) और गर्भपात करनेवाली पायी जाती हैं। यदि निष्पक्षतासे देखा जाय तो सब ओर यही आग लगी हुई है, परन्तु माता-पिता और देशके नेता क्या सोच रहे हैं, यह हमारी समझसे बाहर है!

९० प्रतिशत तो बहुत दूरकी बात है, १० प्रतिशत भी हो तो बहुत ही भयानक है। विश्वास नहीं होता कि यह संख्या सत्य है। सम्भव है छपनेमें भूल हुई हो; परन्तु इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि आजकल स्कूलोंमें पढ़नेवाली क्वारी कन्याओंके चरित्रोंके बिगड़नेकी सम्भावना बहुत अधिक है और इसीलिये ऐसी घटनाओंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। जब लड़कियोंका यह हाल है, तब स्वेच्छाचारको ही आदर्श माननेवाली शिक्षिता वयस्का स्त्रीका क्या हाल हो सकता है, यह सोचते ही हृदय काँप उठता है।

आजकी पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ माता-पिताको नहीं मानतीं। समाचारपत्रोंमें छपा है कि नागपुरके यस० आर० गोखले नामक एक वृद्ध सज्जनने स्त्रीसहित इसलिये महान् दुःखी होकर अपने

प्राण दे दिये हैं कि उनकी शिक्षिता युवती कन्या माता-पिताकी आज्ञाके प्रतिकूल अपना मनमाना विवाह करना चाहती थी। आजके युवक-युवती कह सकते हैं कि 'विवाह लड़कीका था। माँ-बापका तो था ही नहीं। लड़की स्वतन्त्रतासे मनमाना पति-वरण करती। माँ-बापको बीचमें बोलनेकी क्या आवश्यकता थी।' ठीक है, यही तो अहिन्दू आदर्श है। इसी आदर्शके कारण आज अदूरदर्शी नवयुवक और नवयुवतियोंके द्वारा इन्द्रियोंके आकर्षणसे उत्पन्न बुद्धिशून्य और मर्यादारहित प्रेमस्वातन्त्र्य (Free Iove) को महत्त्व दिया जा रहा है और उसमें जरा-सी बाधा आते ही वे आत्महत्या कर लेते हैं। यही अहिन्दू आदर्श माता-पितामें उनकी बुद्धिमें और विवेचनाशक्तिमें अश्रद्धा उत्पन्न कराकर तमाम प्राचीनताके प्रति मनको विद्रोही बना रहा है। आजकी शिक्षिता स्त्री इसलिये अपनी सासके पैरोंमें सिर झुकानेमें या पतिकी सेवा करनेमें अपना अपमान समझती है। इस उच्च शिक्षाका आदर्श तो वही यूरोप है न, जहाँ संगठितरूपसे पतियोंके विरुद्ध जेहादका झंडा उठाया जाता है और पतिघातिनी समितियाँ बनती हैं! स्त्री किसीके साथ हँसे-खेले, घूमने जाय, सिनेमामें जाय, शराब पीये, कुछ भी करे, पति या पिता-माता उसे कुछ कह ही नहीं सकते, क्योंकि यही तो सभ्यताका चिह्न है। हा! भारतकी सतीशिरोमणि देवी! तू आज अपने पवित्र लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर किस नरककुण्डकी ओर अग्रसर हो रही है!!!

विलासिता और फिजूलखर्चीका तो कहना ही क्या है? पतिको चाहे बीस रुपये मासिककी नौकरी न मिलती हो,

बीबीको तो अपनी मौज-शौक पूरी करने, फैशनका सामान खरीदने और सिनेमामें जानेके लिये पैसे जरूर चाहिये। कॉलेजकी लड़कियोंका यह हाल है कि आजके केवल फैशनके पीछे पगली हो रही हैं। करोड़ों रुपयेकी व्यर्थ शृंगारकी वस्तुएँ इस फैशनके लिये विदेशोंसे आती हैं। घरका काम करना, झाड़ू देना, चक्की पीसना और रसोई बनाना उनके लिये अपमानका कारण बन गया है। भारत-सरीखे निर्धन देशमें कन्याओंको इस प्रकार शौकीन और खर्चालू बनाना और घरके कामोंसे विमुख करना अपार दुःखोंको निमन्त्रण देना है। यह बहुत बड़ा सामाजिक पाप है!

इससे मेरा यह मतलब नहीं है कि स्त्री अपने शरीरको मैला रखे, सफाईसे न रहे, गंदे कपड़े पहने या स्त्री-सुलभ उचित शृंगार न करे। ये सब कार्य तो विलासिताकी भावनाके बिना भी हो सकते हैं और होने चाहिये तथा इनमें खर्च भी अधिक नहीं होता। याद रखना चाहिये कि सौन्दर्य फैशनमें नहीं है, सौन्दर्य हृदयके आदर्श गुणोंमें है। सौन्दर्य बोल-चाल, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, विनय-नम्रता, सचाई-सफाई, स्वास्थ्य और शक्ति आदिकी स्वाभाविक उच्चतामें है। जिसका हृदय सुन्दर और मधुर है, जिसके कार्य सुन्दर और मधुर हैं, वही सबसे बढ़कर सुन्दर है, फिर शारीरिक सौन्दर्यकी रक्षाके लिये भी उचित और कमखर्चीके पदार्थोंका यथासाध्य उपयोग करनेमें कोई बुराई नहीं है। बुराई तो फैशनकी गुलामीमें है। जहाँ फैशनकी गुलामी होगी, वहाँ उसकी पूर्तिके लिये धनकी भी विशेष

आवश्यकता होगी और वह धनकी आवश्यकता ही आज स्त्रियोंके स्वाभाविक गुण सरलताको कपटाचारके द्वारा पराजित करवा रही है।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त स्त्रियोंमें कुछ स्त्रियोचित खास दोष और आ गये हैं, जिनमें सबसे प्रधान विवाह-विच्छेद और सन्ततिनिरोधकी भावना, सब बातोंमें समान अधिकारकी अव्यावहारिक इच्छा और सिनेमाओंमें नाचनेका शौक है।

तलाक और सन्ततिनिरोध

विवाह-विच्छेदकी भावना ही पवित्र दाम्पत्य-प्रेमका समूल नाश करनेवाली है। जिस हिंदू-संस्कृतिमें ***'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'*** सतीत्वका आदर्श था, जहाँ हजारों कुल-ललनाएँ पवित्र सतीत्वकी रक्षाके लिये जलती आगमें सहर्ष कूद पड़ती थीं, जहाँ दुर्दान्त रावणके चंगुलसे छूटनेकी सम्भावना होनेपर भी पुत्रके समान हनुमान्‌का इच्छापूर्वक स्पर्श करना सीताने अपने सतीत्वके लिये कलंक समझा था; जहाँ मृत पतिकी लाशको गोदमें रखकर देहको सहर्ष भस्म कर डालनेमें गौरव माना जाता था, वहाँकी कुलदेवियाँ आज अन्तःपुरके पर्दोंको फाड़-कर परपुरुषोंके बीचमें सभाओंमें खड़ी होकर यह कहनेमें भी नहीं हिचकतीं कि 'सतीत्व एक कुसंस्कार है, यह पुरुषोंकी गुलामी है, इस गुलामीसे छूटनेके लिये तलाक करनेका हमें हक है।'

लगभग ८६ वर्ष पहलेकी एक सच्ची घटना है। बंगालके राजशाही जिलामें पुठिया नामक एक गाँव है। रानी शरत्सुन्दरी उसी गाँवके जमींदार योगेन्द्रनारायणकी पत्नी थी; योगेन्द्रनारायणकी

मृत्यु हो गयी। रानी विदुषी थी। सोलह वर्षकी अवस्थामें कोर्ट आफ वार्ड्ससे अधिकार मिलनेपर वह जमींदारीका काम बड़ी सावधानीसे चलाने लगी। एक बार राजशाहीके कलेक्टर मि० वालेसकी पत्नी रानीके गुण सुनकर उससे मिलने आयीं। इतनी छोटी उम्रमें मुँड़ा हुआ मस्तक, मोटे कपड़े और जमीनपर कम्बलके आसनपर रानीकी तपस्विनी मूर्तिको बैठी देखकर सहृदया मिसेज वालेसका हृदय भर आया। वह स्नेहके वेगको रोक न सकीं। सरलभावसे उन्होंने कहा, 'रानी! आपकी उम्र तो अभी बहुत छोटी है, आप विवाह क्यों नहीं कर लेतीं।' शरत्सुन्दरीने कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। मेम साहिबा उसे दुःखी देखकर घबड़ायीं और क्षमा माँगकर चली गयीं। रानीको बड़ा दुःख हुआ। वह सोचने लगी कि हिन्दू-विधवा स्त्रीके लिये पुनर्विवाहकी बात सुननेसे बढ़कर और क्या पाप होगा। रानीने इसका प्रायश्चित्त करनेके लिये कई दिनोंतक निर्जल उपवास किया! कहाँ तो पतिके मर जानेपर विवाहका नाम सुननेसे हिंदू-स्त्रीका हृदय इस प्रकार पापकी भावनासे काँप उठता था, कहाँ आज जीते पतिको त्यागकर परपुरुषको वरण करनेकी घोषणा हिंदू-महिलाएँ भरी सभामें अपने मुँहसे करने लगीं!!!

इसीके साथ सन्ततिनिरोधका भी प्रश्न छिड़ा हुआ है। माना कि भारतके समान गरीब देशमें अधिक संतान माता-पिताके संतापका हेतु होती है, परंतु यह तो विधिका विधान है। पूर्वकर्म भी कोई वस्तु है, उसका फल सहज ही टल नहीं सकता। जिस

जीवका जहाँ जन्म बदा है, वहाँ होगा ही, यह सिद्धान्त है; परंतु यदि कोई इसे न माने तो भी सन्ततिनिरोधका सबसे बढ़िया तरीका इन्द्रिय-संयम है। सन्ततिनिरोधकी आवश्यकता और साधन बतलानेवाली मिस सेंगर-जैसी विदेशी रमणीके सद्भावोंका अनादर न करते हुए भी यह कहना ही पड़ता है कि वे साधन भारतीय संस्कृतिके अनुसार नीति और धर्म दोनों ही दृष्टियोंसे हानिकर ही नहीं वरं बड़े पापपरिपूर्ण हैं। इस प्रकारकी सन्ततिनिरोधकी प्रणालीमें व्यभिचारकी वृद्धि और कामवासनाकी निष्कण्टक चरितार्थताकी संभावना ही प्रत्यक्षरूपसे छिपी है। महात्मा गाँधीने एक लेखमें लिखा था कि 'इन कृत्रिम साधनोंसे ऐसे-ऐसे कुपरिणाम आये हैं जिनसे लोग बहुत कम परिचित हैं। स्कूली लड़के और लड़कियोंके गुप्त व्यभिचारने क्या तूफान मचाया है यह मैं जानता हूँ ×××××× मैं जानता हूँ स्कूलोंमें, कॉलेजोंमें ऐसी अविवाहित जवान लड़कियाँ भी हैं जो अपनी पढ़ाईके साथ-साथ कृत्रिम सन्ततिनिग्रहका साहित्य और मासिक पत्र बड़े चावसे पढ़ती रहती हैं और कृत्रिम साधनोंको अपने पास रखती हैं। इन साधनोंको विवाहित स्त्रियोंतक ही सीमित रखना असम्भव है और विवाहकी पवित्रता तो तभी लोप हो जाती है जब कि उसके स्वाभाविक परिणाम संतानोत्पत्तिको छोड़कर महज अपनी पाशविक विषय-वासनाकी पूर्ति ही उसका सबसे बड़ा उपयोग मान लिया जाता है।' इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्योंके हृदयमें कृत्रिम सन्ततिनिग्रहके इस आन्दोलनसे पवित्रताके स्थानपर किस प्रकार घृणित पाशविक

कामका आधिपत्य हो रहा है और किस प्रकार हमारे अपरिपक्वमति बालक और बालिकाएँ इसके शिकार होकर अपना सर्वनाश कर रहे हैं। इसी प्रकार सभी बातोंमें समानता और तलाकके आन्दोलनमें भी बहुत अंशमें इस घृणित कामकी ही प्रेरणा प्रधानरूपसे कार्य कर रही है!

समानाधिकार

आज यह कहा जाता है कि 'स्त्री-पुरुष दोनोंका समान अधिकार है; अतः स्त्रीको सब बातोंमें समानता मिलनी चाहिये। पुरुष बाजारमें जाता है, नौकरी करता है, खेल-तमाशेमें जाता है, सभा-समितिमें जाता है, कौन्सिलका मेम्बर बनता है और वकील-बैरिस्टर या जज बनता है। स्त्रीका इन सब बातोंमें ऐसा ही अधिकार क्यों नहीं होना चाहिये! यह पुरुषोंकी स्वार्थपरता है जो उन्होंने स्त्रियोंको आरम्भसे ही अपना गुलाम बनाये रखनेके लिये उनको धोखा देकर उलटा समझाया।' इस प्रकार आजकल पुरुष-विद्वेषकी भावना उत्पन्नकर स्त्रियोंको उकसाया जाता है और शिक्षिता कहलानेवाली माताएँ काफी उकसने भी लगी हैं। वे कहती हैं कि 'हम लड़कपनमें माता-पिताकी, जवानीमें पतिकी और वृद्धावस्थामें पुत्रकी संरक्षतामें क्यों रहें?' क्या हम मनुष्य नहीं हैं? क्या हमें उतना ही हक नहीं है जितना पुरुषको है।' मायाका ऐसा ही चमत्कार है, शिक्षावारुणीका ऐसा ही नशा है जो इस बातको समझने ही नहीं देता कि समानाधिकारकी बात तो तब उठ सकती जब दो चीजें वस्तुतः अलग-अलग होतीं। हमारी संस्कृतिमें तो दम्पति स्त्री-पुरुषका एक सम्मिलित

नाम है, दोनों परस्पर अर्धांग हैं। एक ही आत्माके दो व्यक्त स्वरूप हैं। ऐसी अवस्थामें पुरुषके साथ प्रतिस्पर्धा करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। रही शारीरिक स्वाधीनताकी बात, सो विधाताने स्त्री और पुरुषकी देहकी रचना ही ऐसे ढंगसे की है जिससे दोनोंकी सब बातोंमें कदापि समानता हो नहीं सकती। घरमें स्त्री रानी है, पुरुष उसकी रक्षामें है, उसका दिया हुआ भोजन पुरुषको खानेको मिलता है। परन्तु बाहर स्त्रीको पुरुषकी संरक्षतामें रहना चाहिये। स्त्रीका शरीर सम्पूर्णरूपसे कभी स्वाधीन होनेयोग्य बना ही नहीं है। पुरुष बदन खोलकर आम रास्तोंपर घूम सकता है, स्त्री वैसे नहीं घूम सकती। जंगली स्त्रियाँ भी छातीपर कपड़ा डालकर बाहर निकलती हैं। आजकलकी नंगे सम्प्रदायकी पाश्चात्य स्त्रियाँ नंगी रहना चाहती हैं यह दूसरी बात है। परन्तु वहाँ भी आम तौरपर रास्तोंमें पुरुषकी भाँति स्त्री खुले अंग निर्भीक नहीं घूम-फिर सकती। ऋतुकालसे ही स्त्रीके सब अंगोंमें पुरुषके अंगोंके साथ विलक्षणरूपसे भेद बढ़ने लगता है। ऋतुकालमें उसकी रक्षाकी आवश्यकता होती है। उसे गर्भ धारण करना पड़ता है। गर्भकालमें उसकी देहमें कितने ही परिवर्तन होते हैं। कई तरहके विघ्नोंकी सम्भावना रहती है। उस समय उनसे बचनेके लिये दूसरेकी सहायता आवश्यक होती है। उसे कठोर शारीरिक और मानसिक श्रम तथा उद्वेगसे बचाव रखना पड़ता है। प्रसवके समय खास तौरपर देख-रेखकी जरूरत होती है। गर्भ और प्रसव दोनों ही समय उसके लिये कई आवश्यक नियमोंका पालन अनिवार्य हो

जाता है। वह संतानकी जननी बनती है। भगवान् उसके स्तनोंमें दूध उत्पन्न करते हैं और वह स्नेहपूर्ण हृदयसे बच्चेका पालन-पोषण करती है, परन्तु पुरुषको इनमेंसे कुछ भी नहीं करना पड़ता।

नारी-हरण नाम सुनते ही हमारा खून खौलने लगता है। पुरुष-हरणकी बात तो 'अमेरिकाको छोड़कर' कहीं नहीं होती। स्त्रीके शरीरमें तप, धीरज, तितिक्षा और पोषणकी शक्ति है, इसीसे वह इतना त्याग करती है। पुरुष वैसा नहीं कर सकता। परंतु यह सत्य है कि देहकी दृष्टिसे स्त्री सदा निराश्रया है। हृदयकी दृष्टिसे वह पिता, पुत्र और पतिकी आश्रयस्वरूपा है। उसकी स्वाधीनता हृदयके क्षेत्रमें है, देहके क्षेत्रमें नहीं। इसी हृदयके बलपर स्त्री पुरुषपर सदा ही विजयिनी है। वह स्नेहकी मूर्ति, प्रेमका अवतार और वात्सल्यकी प्रतिमा है। इसीसे विद्या, पद, गौरव, मान-सम्मान आदिमें बहुत बढ़े-चढ़े पुरुष संध्याके समय घर आकर स्त्रीका आश्रय लेते हैं। स्त्रीका यह प्रताप शारीरिक शक्तिसे नहीं है, प्रेमशक्तिसे, हृदयशक्तिसे, सेवाशक्तिसे है। स्त्री यदि इस अनुपम हृदय-सम्पत्तिका तिरस्कार करके शारीरिक सम्पत्तिमें पुरुषकी प्रतिद्वन्द्विता करने लगेगी तो इससे दोनोंका ही अमंगल अनिवार्य है। स्त्री अपने इस विजयपदसे गिर जायगी, निराश्रय हो जायगी! और वह जितना ही इस क्षेत्रमें आगे बढ़ेगी उतना ही अपनी स्वाधीनता खोकर पुरुषके चंगुलमें फँस जायगी। आज वह पुरुषको नचाती है, अपने चरणोंपर गिराती है फिर उसे नाचना पड़ेगा और पुरुष एक अपने परम मित्रको खोकर—दिनभर थका-माँदा घर आकर जिसके आश्रयसे

कुछ समयके लिये अपने सब दुःखोंको भूलकर सुखी हो जाता है—सर्वथा निराश्रय हो जायगा। परंतु क्या किया जाय, वर्तमान शिक्षाने स्त्रियोंको विपथगामिनी बना दिया है, इसीसे वे समानाधिकारके मोहमें पड़कर पुरुषविद्वेषका चश्मा चढ़ानेके कारण अपना हिताहित भूल रही हैं और पुरुषोंकी प्रतिद्वन्द्विता करनेके लिये अपने रानी-पदका परित्याग कर बाजारमें निकल पड़ी हैं। इसीसे वे आज थियेटर, सिनेमा, सभा-समिति, कौन्सिल, अदालत और ऑफिसके फेरमें पड़कर अपने-आपको घृणित पराधीनताके पंजेमें फँसा देना चाहती हैं। इसीसे वे अपनी पोषणमयी प्रतिमाको बिगाड़कर शोषणका भीषण रूप धारण करना चाहती हैं। याद रखना चाहिये कि स्त्रीको कभी स्वतंत्र न रहनेकी व्यवस्था इसलिये नहीं है कि स्त्री गुलाम है, उसे परतन्त्र रखना चाहिये। वह परतन्त्रता तो उसकी शोभा है। रानी ही पहरेदारोंमें रहती है, उसके गुणोंकी, उसके सुन्दर शरीरकी, उसके जरासे स्पर्शसे ही अपावन हो जानेवाले पवित्र सतीत्वकी और आदर्श मातृत्वकी रक्षाके लिये उस परतन्त्रताकी आवश्यकता है। यह उसकी सम्मानरक्षाके लिये दिया हुआ विधाताका दान है!

समान शिक्षा और सहशिक्षा

एक और बहुत बुरी बात बढ़ रही है, वह है युवक-युवतियोंकी सहशिक्षा। अर्थात् एक ही विद्यालयमें इकट्ठे बैठकर एक-सा ही पुस्तकोंको पढ़ना। प्रथम तो यह धर्महीन शिक्षाप्रणाली ही हिंदू-स्त्रियोंके आदर्शके सर्वथा प्रतिकूल है, फिर जवान लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना तो और भी

अधिक हानिकर है। इस सहशिक्षाका भीषण परिणाम प्रत्यक्ष देखनेपर भी मोहवश उसी मार्गपर चलनेका आग्रह किया जा रहा है। इसका कारण प्रत्यक्ष है। जिन बातोंको हम पतन समझते हैं, वही बातें उनकी दृष्टिमें उत्थान या उन्नतिके चिह्न हैं। पश्चिमीय सभ्यताका आदर्श ही उनके हृदयमें सबसे ऊँचा आसन प्राप्त कर चुका है, अतएव उसकी ओर उनका अग्रसर होना और दूसरोंको ले जानेकी चेष्टा करना स्वाभाविक ही है। परंतु जो लोग अभी इसका विचार करते हैं, उन्हें बुद्धिपूर्वक कुछ सोचनेकी चेष्टा अवश्य करनी चाहिये।

पहले 'समान शिक्षा' पर कुछ विचार करें। शिक्षाका साधारण उद्देश्य है मनुष्यके अन्दर छिपी हुई शक्तियोंका उचित विकास करना। परंतु क्या पुरुष और स्त्रीमें शक्ति एक-सी है? क्या पुरुष और स्त्रीकी शक्तिके विकासका क्षेत्र एक ही है? क्या सब बातोंमें पुरुषके समान ही स्त्रीको शिक्षा ग्रहण करनेकी आवश्यकता है? विचार करनेपर स्पष्ट उत्तर मिलता है—'नहीं'। दोनोंके शरीर-संगठनमें भेद है, दोनोंके कार्यमें भेद है, दोनोंके हृदयोंमें भेद है। इस भेदको ध्यानमें रखकर ही शिक्षाकी व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकृति-वैचित्र्यको मिटाकर आज हम प्रमादवश स्त्री-पुरुषको सभी कार्योंमें समान देखना चाहते हैं। इस असम्भव साम्यवादकी मोहिनी आशाने हमें अन्धा बना दिया है, इसीसे हमें आज प्रत्यक्ष भी अप्रत्यक्ष हो रहा है। ध्यानसे देखनेपर दोनोंमें दो प्रकारकी शक्तियाँ माननी पड़ती हैं और दोनोंके दो क्षेत्र साबित होते हैं। स्त्रीका क्षेत्र है घर, पुरुषका क्षेत्र है बाहर।

स्त्री घरकी स्वामिनी है, पुरुष बाहरका मालिक है।* दफ्तर, बाजार, सभा, कचहरी, कौंसिल—ये सब पुरुषोंकी चीजें हैं, स्त्री इनमें जाकर क्यों माथापच्ची करेगी? उसे मातृत्वमें जो सुख है, घरकी स्वतन्त्रतामें जो आनन्द है वह दफ्तरकी क्लर्कीमें कहाँसे मिलेगा? स्त्रीका खास क्षेत्र मातृत्व है। उसके सारे अंग आरम्भसे इस मातृत्वके लिये ही सचेष्ट हैं। वह मातृत्वका पोषण करनेवाले गुणोंसे ही महान् बनी है। बहुत बड़ा त्याग करके स्त्री इस मातृत्वके पदको प्राप्त करती और सुखी होती है। जिस शिक्षासे इस मातृत्वमें बाधा पहुँचती है, जिस शिक्षामें स्त्रीके पवित्र मातृत्वके आधारस्वरूप सतीत्वपर कुठाराघात होता है, वह तो शिक्षा नहीं कुशिक्षा है। एक पत्रमें प्रकाशित हुआ था कि एक फैशनेबल पाश्चात्य युवतीने अपने बालकको इसलिये मार डाला कि उसको रात्रिके समय खाँसी अधिक आती थी, इस कारण वह बहुत रोता था और इससे युवतीके सोनेमें विघ्न होता था। एक युवतीने बच्चेके पालन-पोषणसे पिंड छुड़ानेके लिये आत्महत्या कर ली। मातृत्वका यह विनाश कितना भयंकर है? परन्तु जिस उच्च शिक्षाके पीछे आज हम व्याकुल हैं, जिस सभ्यताका प्रभाव

---

* 'घर' और 'बाहर' से यह मतलब नहीं कि स्त्री सदा घरके अंदर बंद रहे और पुरुष सदा बाहर ही रहे। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर ही एक सच्चा 'घर' है। पति बाहर जाता है उसी 'घर' के लिये और स्त्री घरमें रहती है उसी 'घर' के लिये। इसी प्रकार आवश्यक होनेपर धार्मिक या सामाजिक कार्यके निमित्त स्त्री घरकी मर्यादाके अनुसार पति-पुत्रादिके साथ बाहर जाती है उसी 'घर' के लिये—'घरको भूलकर स्वतन्त्र शौकसे नहीं। पति घरमें आता है 'घर' के लिये। 'घर' को भूलकर, बाहरकी सफलतामें फूलकर, अभिमानमें डूबकर हुकूमत करनेके लिये नहीं। घर-बाहरकी यह व्यवस्था—जाना-आना, मिलना-जुलना, कमाना-खाना, पाठ-पूजन, दान-पुण्य, आचार-व्यवहार—सब इस एक ही 'घर' को सुरक्षित और समुन्नत बनानेके लिये है।

आजकी हमारी स्त्रीशिक्षाको संचालित करता है, उस सभ्यताके मातृत्वनाशका तो यही नमूना है! आज हम स्त्रियोंके मातृत्वभावका विनाश कर उन्हें तलवार चलाना सिखाते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि यदि मातृत्व या सतीत्वका आदर्श न रहा, यदि स्त्री अपने स्वाभाविक त्यागके आदर्शको भूल गयी—वह स्नेहमयी माँ, प्रेममयी पत्नी या त्यागमयी देवी न रही तो उसकी तलवारका शिकार उसीकी संतान, उसीका पति या उसीका अपना शरीर होगा। तलवार चलाना तो जरूर सिखाया जाय, परन्तु पहले मातृत्वको कायम रखकर। जिसमें उसका प्रहार शत्रुओंपर ही हो, अपनोंपर नहीं!—माता शत्रुविनाशिनी बने, पति-पुत्रग्रासिनी नहीं! वर्तमान शिक्षापद्धतिसे मातृत्वका बुरी तरह विनाश हो रहा है। इससे सिद्ध होता है कि स्त्री-पुरुषके लिये एक-सी शिक्षा सर्वथा अव्यावहारिक और हानिकारक है।

अब सहशिक्षापर विचार कीजिये। स्त्रियोंमें बहुत-से स्वाभाविक गुण हैं। उन्हीं गुणोंके कारण वे महान् पुरुषोंकी माताएँ बनती हैं। उन्हीं गुणोंका विकास करना स्त्री-शिक्षाका उद्‌देश्य होना चाहिये। परन्तु साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि जो चीज जितनी बढ़ी-चढ़ी होती है, वह उलटे मार्गपर चले तो उससे नुकसान भी उतना ही अधिक होता है। स्त्रीको उन्नत बनानेवाले त्याग, सहनशीलता, सरलता, तप, सेवा आदि अनेक आदर्श गुण हैं। परन्तु स्त्री यदि चरित्रसे गिर जाती है तो फिर उसके यही गुण विपरीत दिशामें पलटकर उसे अत्यन्त भयंकर बना देते हैं और सहशिक्षासे प्रत्यक्ष ही व्यभिचारकी भावना

उत्पन्न होती है। जिससे कोमलहृदया कन्याओंके चरित्रका नाश होते देर नहीं लगती।

स्त्री-पुरुषके शरीरका संगठन ही ऐसा है कि उनमें एक-दूसरेको आकर्षित करनेकी विलक्षण शक्ति मौजूद है। नित्य समीप रहकर संयम रखना असम्भव-सा है। प्राचीन कालके तपोवनमें निर्मल वातावरणमें रहनेवाले जैमिनि, सौभरि, पराशर-सरीखे महर्षि और न्यूटन और मिल्टन-जैसे विवेकी पुरुष और वर्तमान कालके बड़े-बड़े साधक पुरुष भी जब संसर्ग-दोषसे इन्द्रिय-संयम नहीं कर सके, तब विलासभवनरूप सिनेमाओंमें जानेवाले, गंदे उपन्यास पढ़नेवाले, तन-मन और वाणीसे सदा शृंगारका मनन करनेवाले, मौज-शौक तथा उच्छृंखलताके आदर्शको लक्ष्य माननेवाले, भोगवादको प्रश्रय देनेवाली केवल अर्थकारी विद्याके क्षेत्र कॉलेजोंमें पढ़नेवाले और यथेच्छ आचरणके केन्द्र-स्थान छात्रावासोंमें निवास करनेवाले विलासिताके पुतले युवक-युवतियोंसे शुकदेवके सदृश इन्द्रिय-संयमकी आशा करना अपने-आपको धोखा देना है। परन्तु आज तो बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् यूरोपका उदाहरण देकर सहशिक्षाका समर्थन कर रहे हैं, मतिवैचित्र्य है!!

कुछ लोग संस्कृत नाटकोंके आधारपर प्राचीन गुरुकुलोंमें सहशिक्षाका होना सिद्ध करते हैं; परंतु उन्हें यह जानना चाहिये कि प्राचीन ग्रन्थोंमें कहीं भी कन्याओं और स्त्रियोंका ऋषियोंके आश्रममें जाकर एक साथ पढ़नेका प्रमाण नहीं मिलता; गुरुकन्याओंके साथ भाई-बहनके नाते ब्रह्मचारी गुरुकुलमें अवश्य रहते थे। परन्तु गुरुकुलोंमें अत्यन्त कठोर नियम थे। सभी बातोंमें

संयम था और आजकलके कॉलेज-होस्टलोंकी तरह विलासिता और स्त्री-पुरुषकी परस्पर कामवृत्ति जगानेवाले साधन वहाँ नहीं थे। इतनेपर भी कच-देवयानीके इतिहासके अनुसार कहीं-कहीं आकर्षण होनेकी सम्भावना थी ही। अतः आजकलकी सहशिक्षाका समर्थन इससे कदापि नहीं हो सकता।

सिनेमा

सिनेमा भी आजकलकी सभ्यताका एक अंग है और शिक्षित स्त्री-पुरुष सभ्यताके सभी अंगोंमें प्रवेश करना चाहते हैं, अतएव स्वाभाविक ही इधर भी उनका प्रवेश खूब हो रहा है। निःसंदेह चित्रपट एक कला है और संयमी, सदाचारी तथा निःस्वार्थ पुरुषोंके द्वारा इसका सदुपयोग हो तो इससे मनोरंजनके साथ ही बहुत कुछ उपकार भी हो सकता है। परन्तु उपकारकी जितनी सम्भावना है उससे अधिक अपकारकी है। जन्म-जन्मान्तरके बुरे संस्कारोंके कारण प्रायः मनुष्य बुरी बातोंको जितनी जल्दी ग्रहण करता है, उतनी अच्छी बातोंको नहीं करता। कथानक अच्छे-से-अच्छा हो, सब बातें शिक्षाप्रद हों तथापि उसमें कुछ-न-कुछ तो श्रृंगार-रस रखना ही पड़ेगा। जहाँ स्त्रियोंके पार्ट पुरुष करते हों वहाँ तो विशेष आपत्तिकी बात नहीं है, परन्तु जहाँ स्त्रियोंके पार्ट स्त्रियाँ करेंगी, वहाँ वे चाहे कितने ही उच्च घरानेकी हों और पुरुषमात्र कितने ही सच्चरित्र हों, नित्यके संगसे उनके द्वारा प्रमाद होनेकी सम्भावना है ही! नर और नारीके शरीरोंकी प्रकृतिने रचना ही ऐसी की है कि उनमें परस्पर शारीरिक मिलनकी इच्छा उत्पन्न हो ही जाती है। फिर युवावस्थामें तो यह मिलनेच्छा बड़ी तीव्र होती है, ऐसी

अवस्थामें नित्य साथ रहकर, शृंगारके पार्ट कर-कर पद्मपत्रवत् निर्लेप बने रहना असम्भव-सा ही है। नित्यके अबाध संगमें इन्द्रिय-संयम बना रहना मामूली बात नहीं है। बड़े-बड़े वनवासी फल-मूलाहारी तपस्वी महान् विद्वान् और ऊँचे साधक भी तीव्र आकर्षणके प्रभावसे जब इन्द्रियोंके वश हो जाते हैं तब शृंगारकी लीलाभूमि सिनेमामें रहनेवाले जवान उम्रके साधारण अभिनेताओं और अभिनेत्रियोंकी तो बात ही कौन-सी है! इस भारी पतनकी आशंका तो सिनेमा-जगत्में पर्याप्त सुधार—जिसकी आशा नहीं है—होनेपर भी रहेगी ही; वर्तमान सिनेमाओंमें तो पद-पदपर सबके पतनके लिये गहरी खाइयाँ खुदी हैं। गंदे गाने, अश्लील मजाक, अर्द्धनग्नावस्थाके नाच, शृंगारसे पूर्ण कथानक, मिस कहलानेवाली एक्ट्रेसोंके गंदे हाव-भाव, सभी चीजें नरकके दरवाजे हैं। चित्रपट इस समय धन कमानेका पूरा साधन बन गया है; अधिक-से-अधिक धन कमाना ही संचालकोंका उद्‌देश्य है। करोड़ोंकी पूँजी लगाकर व्यापारी इस क्षेत्रमें धन कमानेके लिये कूद पड़े हैं। कलाका विकास और शुद्ध भावोंका प्रचार प्रायः किसीका उद्‌देश्य नहीं है। इसीलिये जिन-जिन सामग्रियोंसे जनता अधिक आकर्षित होती है, उन्हींको एकत्रकर प्रदर्शन करना सिनेमा-संचालकोंका कर्तव्य हो गया है, फिर चाहे उनसे जनताकी रुचि बिगड़े, वह आचरणभ्रष्ट हो और सदाके लिये नरकके गढ़ेमें क्यों न गिर पड़े। जनताके पतनकी जिम्मेदारीका खयाल किसीको नहीं है। ध्यान है तो केवल धनका और यह धनका ध्यान केवल संचालकोंको ही नहीं है, सिनेमाओंसे संलग्न प्रायः सभी लोगोंको है। नहीं तो गंदे

साहित्यके द्वारा गंदे फिल्म कैसे बनते और क्योंकर उनका प्रदर्शन सम्भव होता? खेदकी बात है कि इस समय भले घरोंकी शिक्षिता कहलानेवाली महिलाएँ भी अपनी आर्योचित उच्च कुलमर्यादाको त्यागकर सिनेमाओंमें पर-पुरुषोंके साथ मिलकर अभिनय करनेमें गौरवका अनुभव तथा उन्नतिका गर्व करने लगी हैं। यह पतनका प्रत्यक्ष चिह्न है। पता नहीं वे किसी भुलावेमें आकर ऐसा कर रही हैं या कलाकी आड़में आर्थिक प्रलोभनमें पड़कर! अभी कुछ दिनों पहले एक एक्ट्रेसका अनुभव पत्रोंमें छपा था; उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि एक्ट्रेस बनकर सिनेमामें अभिनय करनेवाली नारियोंका चरित्रवान् रहना अत्यन्त ही कठिन है। प्राय: यही हाल पुरुष एक्टरोंका समझना चाहिये। अधिकांश संचालकोंके लिये भी कुसंगतिका शिकार होना अनिवार्य है। समाजका दुर्भाग्य है कि स्कूल-कॉलेजोंके छात्र-छात्राओंका सिनेमा-शौक दिनोंदिन बढ़ रहा है और वे बुरी तरह कुप्रवृत्तियोंके शिकार हो रहे हैं। सिनेमाके साथी शराब और वेश्याओंके फेरमें पड़कर उनका सर्वनाश हो रहा है? गतवर्ष कुछ धर्मशीला युवती स्त्रियोंने पूछा था कि हमारे शिक्षित पति हमें जबरदस्ती सिनेमाओंमें और क्लबोंमें ले जाकर गंदे खेल दिखलाना और मांस-शराब खिलाना-पिलाना चाहते हैं, ऐसी अवस्थामें हम क्या करें!!

आजकल पत्रोंके द्वारा भी इन सिनेमाओंके प्रचारमें काफी सहायता मिल रही है। विज्ञापनोंकी आमदनीके प्रलोभनसे पत्र-पत्रिकाओंके संचालक, सम्पादकगण भी सिनेमासम्बन्धी साहित्य और सिनेमाके पात्र-पात्रियोंके चित्र खास करके पात्रियोंके

आकर्षक चित्र छापकर जनताका चित्त उधर खींच रहे हैं। मैं अपने सम्मान्य पत्र-सम्पादक भाइयोंको उनके नैतिक दायित्वकी बात याद दिलाकर प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे इस ध्वंसकारी प्रवाहके रोकनेमें सहायक हों। जो साहित्य कोमलमति बालकोंके और प्रबल इन्द्रियोंके वेगको न सह सकनेवाले अनुभवहीन नयी उम्रके युवक-युवतियोंके हृदयमें कलाके नामपर जघन्य वृत्तियोंको जाग्रत् कर देता है, जो उनके हृदयमें कुवासना और कुप्रवृत्तियोंकी आग सुलगाकर उनमें बार-बार ईंधन डालकर उसे भड़काता है, वह साहित्य कदापि हितकर नहीं हो सकता। समाजरूपी वाटिकामें खिलते हुए तरलमति युवक-युवतियोंके कोमल हृदयमेंसे दैवी सद्भावोंको हटाकर उनकी जगह आसुरी भावोंको पैदाकर उसमें नरककी आग जला देनेवाली कला तो प्रत्यक्ष काल ही है। साहित्यकारोंको चाहिये कि नवयुवक और नवयुवतियोंके सामने पवित्र वस्तुएँ रखें। उनके हृदयमें वीरता, धीरता, संयम और सदाचारकी वृद्धि हो, ऐसा साहित्यामृत उन्हें पिलावें। हमारी प्राचीन गुरुकुलकी शिक्षापद्धतिके अनुसार तो किसी भी छात्र युवकके सामने शृंगारी साहित्य नहीं आना चाहिये। मलयसमीर, मधुयामिनी, कुसुमसायक और नायक-नायिकाओंके तथा कामकलाके भेद जाननेकी उन्हें आवश्यकता नहीं है। उनके सामने तो पवित्र इन्द्रियसंयमका पाठ रखना चाहिये। क्या मैं आशा करूँ कि कृपालु साहित्यिक महानुभाव मेरी इस प्रार्थनापर नाराज न होकर, सच्चे हृदयसे कुछ ध्यान देंगे? मुझे तो ऐसा लगता है कि वर्तमान चित्रपट एक प्रकारका मधुर विष है, जो समाजशरीरमें सुखपूर्वक पहुँचकर अंदर-ही-

अंदर बड़े जोरसे फैल रहा है और उसे विषाक्त कर रहा है। स्त्रियोंको खास तौरपर इस विषयसे बचना चाहिये था; परंतु खेद है कि आज वही खास तौरपर इसका शिकार बनने जा रही हैं।

शिक्षा कैसी हो ?

तब क्या बालकोंको शिक्षा नहीं देनी चाहिये? यह कौन कहता है? शिक्षा तो जरूर देनी चाहिये; परंतु बालकोंको वैसी शिक्षा देनी चाहिये जिससे उनमें ईश्वरभक्ति, धर्म, सदाचार, त्याग, संयम आदिका विकास हो—वे ईश्वरसे डरनेवाले, आत्मामें विश्वास करनेवाले वीर, धीर और परदुःखकातर यथार्थ मनुष्य बनें और इसके साथ-साथ वे अन्यान्य सभी आवश्यक बातोंको भी सीखें। खर्चीली शिक्षा कम हो जाय तो अच्छा है, परंतु उसकी सम्भावना बहुत कम मालूम होती है। विचारशील विद्वानोंको इस ओर विशेषरूपसे ध्यान देकर शिक्षाके सुधारका कोई क्रियात्मक उपाय शीघ्र-से-शीघ्र शोधना चाहिये।

कन्याओंके लिये तो जहाँतक हो सके मेरी तुच्छ सम्मतिमें पाश्चात्य शिक्षाका मोह छोड़ देना ही उत्तम मालूम होता है। कन्याओंको घरोंमें माता-पिता पढ़ावें और विवाह होनेपर उन्हें पति पढ़ावे। स्त्रियोंके लिये घर ही विश्वविद्यालय है। याद रखना चाहिये कि विदेशी भाषामें बी० ए०, एम० ए० हो जाना कोई खास विद्या नहीं है। परायी भाषा सीखकर ही कोई स्त्री विदुषी नहीं हो जाती, इसीसे उसमें कोई गुण नहीं आ जाता। विदेशी भाषा सीखनेमें भी आपत्ति नहीं होती, यदि उससे कोई हानि न होती। परंतु अपनी शुद्ध संस्कृतिका बलिदान कर उसके बदले विदेशी भाषा सीखकर शिक्षिता कहलाना तो बहुत ही

घाटेका सौदा है। जो शिक्षा हमारे युवकोंका कोई भला न कर सकी, उससे हमारी बहिन-बेटियोंका क्या कल्याण होगा? मेरी समझसे इस शिक्षाके फलस्वरूप स्त्रियोंमें जो नवीन सामाजिक प्रयोग शुरू हुए हैं, उनसे भी उनकी और समाजकी नैतिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियोंसे यथेष्ट हानि हुई है और हो रही है तथा यह हानि कदापि हमें वांछनीय नहीं है और न होनी चाहिये। इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि स्त्रियोंको पढ़ना-पढ़ाना नहीं चाहिये। द्रौपदी बड़ी विदुषी थी, राज्यका संचालन कर सकती थी और लड़ाईकी मन्त्रणा-सभामें भी वह रहती थी, परंतु वह आदर्श सद्गृहिणी भी थी। अहल्याबाई विदुषी और धर्मशीला थी। अतएव सद्गृहिणी होकर ही स्त्रियाँ विदुषी बनें। ऐसी ही पढ़ाईकी आवश्यकता है। जबतक ऐसी पढ़ाईकी व्यवस्था न हो तबतक युनिवर्सिटियोंकी निरर्थक ही नहीं, वरं अत्यन्त हानिकर वर्तमान उच्च स्त्री-शिक्षासे स्त्रियोंका अलग रहना ही समाजके लिये हितकी बात है। जो शिक्षा स्त्रियोंके स्वाभाविक गुण, मातृत्व, सतीत्व, सद्गृहिणीपन, शिष्टाचार, स्त्रियोचित हार्दिक उपयोगी सौन्दर्य-माधुर्यको नष्ट कर देती है, उस शिक्षाकी अपेक्षा तो उनका अशिक्षिता रहना कहीं अच्छा है। जिस विद्यासे सद्गुण रह सकें और बढ़ सकें, उसी विद्याको पढ़ाकर नारियोंको विदुषी बनाना चाहिये और इसकी आवश्यकता भी है; क्योंकि सद्गुणोंका विकास और उनके उचित प्रयोगोंके द्वारा यथेष्ट लाभ सद्विद्यासे ही हो सकता है। परंतु जिस विद्याके प्रभावसे सद्गुण नष्ट होते हों, वह विद्या तो हानिकर ही है। ऐसी हालतमें तो सद्गुणोंको बचानेके लिये विद्याका

मोह छोड़ देना ही बुद्धिमानी है। आजकल जिस प्रकारकी स्त्रीशिक्षाका प्रचार हो रहा है, उससे तो समाजका अमंगल ही दिखायी देता है।

नम्र निवेदन

उपर्युक्त विवेचनमें वर्तमान शिक्षाके कुफलका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। ऐसे और भी बहुत-से दोष इस शिक्षासे पैदा हुए हैं, जिनका उल्लेख नहीं हो सका है। उदाहरणार्थ उनमें एक दोष भेदभाव और परस्पर वैमनस्यकी वृद्धि है। इस शिक्षाके प्रतापसे खान-पान और विवाह-शादी आदिमें उचित भेदको मिटानेवाली नामकी राष्ट्रीयता तो बढ़ी है, परंतु पारस्परिक प्रेम और सौहार्द बुरी तरहसे घट गया है। जैसे यूरोपकी देशभक्ति (Patriotism) में विश्वहितकी तो बात ही क्या, पड़ोसी राष्ट्रके हितकी भी परवा नहीं है, वैसी ही विश्वहित-विरोधिनी संकुचित देश-भक्तिका प्रचार यहाँ भी हो रहा है। आज जातिभेद मिटानेकी तो बातें हो रही हैं; परंतु प्रत्येक जाति-उपजातिका भेद मजबूतीसे कायम रखनेके लिये प्रतिद्वन्द्विताके भावोंसे पूर्ण जातीय कान्फरेंसोंकी बाढ़-सी आ गयी है और सभी अपना-अपना अलग स्वत्व कायम करना चाहते हैं। समस्त भारतवासियोंके एक स्वार्थ होनेकी बात तो दूर रही, आज हिंदू-हिंदूमें और मुसलमान-मुसलमानमें भी वस्तुतः एक स्वार्थकी भावना नहीं रही है। हिंदुओंमें तो जैन, सिख, आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज आदि अनेक नये-नये भेद हो गये हैं और उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है। सैकड़ों जातियों-उपजातियोंमेंसे एक-एक उपजातिके अलग-अलग अनेकों भेद हो गये हैं और सबकी स्वार्थदृष्टि

अलग-अलग हो गयी है। अग्रवालसभा, अग्रवाल-पंचायत, अग्रवाल-युवक-मण्डल, माहेश्वरी डीडूपंचायत, माहेश्वरी महासभा आदि-जैसी सैकड़ों विभिन्न संस्थाएँ इसका प्रमाण हैं। पहले एक वैश्यसभा थी, अब वैश्यवर्णके अन्तर्गत विभिन्न उपजातियोंकी न मालूम कितनी सभाएँ हैं। अधिक क्या, किसी दिन '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' या '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' के आदर्शको माननेवाली जातिके महान् आदर्शको नष्ट करके आजकी इस शिक्षा-प्रणालीमें स्त्री-पुरुष (दम्पति)-में भी पृथक्-पृथक् स्वार्थकी भावना उत्पन्न करके उन्हें लड़ाईके मैदानमें लाकर खड़ा कर दिया है। अभेदके नामपर ऐसा विनाशकारी भेद फैल गया है कि आज हम अपने अकेले व्यक्तित्वकी रक्षा और उसीके पोषणमें जीवन बिताना कर्तव्यकी चरमसीमा समझने लगे हैं!! सभी विचारशील पुरुष इन दोषोंको जानते और अनुभव करते हैं और यथासाध्य इन्हें दूर करनेका प्रयत्न भी कर रहे हैं; तथापि मैं एक बार पुनः सभी शिक्षा-प्रचारक और शिक्षाप्रेमी महानुभावोंसे विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि वे इस विषयपर और भी गम्भीरतासे विचार करें और शिक्षा-प्रणालीमें यथासाध्य तुरंत परिवर्तन करने-करानेका प्रयत्न करें। तेरी तुच्छ सम्मतिमें नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देनेसे शिक्षा-प्रणालीके बहुत-से दोष नष्ट हो सकते हैं और शिक्षाके असली उद्देश्यकी किसी अंशमें पूर्ति हो सकती है।

१-पाठ्य-पुस्तकोंमें हमारी प्राचीन आर्य-संस्कृतिका सच्चा महत्त्व बतलाया जाय, पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषोंके जीवनकी प्रभावोत्पादक और शिक्षाप्रद घटनाओंका सच्चा वर्णन

रहे और प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंके उपयोगी अंशोंका समावेश किया जाय।

[याद रखना चाहिये कि जिस जातिकी अपनी संस्कृति, अपने महापुरुष और अपने सत्-साहित्यपर अश्रद्धा हो जाती है, वह जाति प्रायः नष्ट हो जाती है। वर्तमान शिक्षाने ऐसे विलक्षण ढंगसे यह काम किया है कि हम उसे उन्नति समझ रहे हैं और हो रहा है हमारा सर्वनाश! इस शिक्षाके प्रभावसे आज अपनी संस्कृतिमें, अपने पूर्वपुरुषोंमें और अपने प्राचीन साहित्यमें हमारी श्रद्धा नहीं रही है और इसके बदले पाश्चात्य सभ्यता, यूरोपके महापुरुष और उनके साहित्यपर हमारी श्रद्धा हो गयी है। मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि कहींकी भी अच्छी चीजका आदर न किया जाय। आदर तो अवश्य करना चाहिये; परंतु इतनी आत्मिक गुलामी तो नहीं होनी चाहिये कि हमारे घरकी चीजकी ओर हम देखें ही नहीं, कभी देखें तो उपेक्षासे या घृणाकी दृष्टिसे और वही चीज विदेशी विद्वानोंकी लेखनीसे प्रशंसित होकर उनके द्वारा विकृतरूपमें हमारे सामने आवे तब हम उसीको सिर चढ़ाने लगें।]

२-ईश्वर और धर्मके ठोस संस्कार बालकोंके हृदयमें जमें, ऐसी बातें पाठ्य-पुस्तकोंमें अवश्य रहें। गीता-जैसे सर्वमान्य ग्रन्थको उच्च शिक्षामें रखा जाना चाहिये।

३-सदाचार और दैवी सम्पत्तिको बढ़ानेवाले उपदेश सदाचारी और दैवी सम्पत्तिसम्पन्न पुरुषोंके चरित्रसहित पाठ्य-पुस्तकोंमें रहें और उनका विशेषरूपसे महत्त्व बतलाया जाय।

४-धार्मिक शिक्षाकी स्वतन्त्र व्यवस्था भी हो जिसमें

१-ईश्वरभक्ति, २-माता-पिताकी भक्ति, ३-शास्त्रभक्ति और देशभक्ति, ४-सत्य, ५-प्रेम, ६-ब्रह्मचर्य, ७-अहिंसा, ८-निर्भयता, ९-दानशीलता, १०-निष्कपट व्यवहार, ११-परस्त्रीको माँ-बहिन समझना, १२-किसीकी निन्दा न करना, १३-किसी भी दूसरे धर्म या धर्माचार्यको नीची निगाहसे न देखना, १४-आजीविका आदिके कार्योंमें छल, कपट और चोरीका त्याग, १५-शारीरिक श्रम या मेहनतकी कमाईका महत्त्व और १६-सबसे प्रीति करना—इन १६ गुणोंपर विशेष जोर दिया जाय और बालकोंके हृदयमें इनके विकास और विस्तार करनेकी चेष्टा की जाय। प्रतिदिन पढ़ाई आरम्भ होनेके समय सब अध्यापक और विद्यार्थी मिलकर ऐसी ईश्वर प्रार्थना करें, जिसके करनेमें किसी भी धर्मके बालकको आपत्ति न हो।

५-अवतारों और महापुरुषोंकी जन्मतिथियोंपर उत्सव मनाये जायँ और उनके जीवनकी महत्त्वपूर्ण बातोंपर प्रकाश डाला जाय।

६-खानपानकी शुद्धि और संयमके महान् लाभ बालकोंको समझाये जायँ।

७-किसी भी पाठ्य-पुस्तकमें खुले शृंगारका वर्णन न हो। ऐसा कोई काव्य या नाटक पढ़ाना आवश्यक हो तो उसमेंसे उतना अंश पढ़ाईके क्रमसे निकाल दिया जाय। [मैंने सुना है कि कई पाठ्य-पुस्तकोंके ऐसे पाठ अच्छे अध्यापक अपने विद्यार्थियोंको नहीं पढ़ा सकते और बालिकाओंको तो वैसा पाठ आ जानेपर विचारशील प्रोफेसर जितने दिनोंतक वह पाठ चलता है, उतने दिनोंके लिये उस पीरियडमें अनुपस्थित रहनेकी अनुमति देनेको बाध्य होते हैं।]

८-साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़ानेवाली बातें किसी भी पाठ्य-पुस्तकमें नहीं रहनी चाहिये।

९-विलासिता और फिजूलखर्चीके दोष पाठ्य-पुस्तकोंमें बतलाये जायँ। जहाँतक हो विद्यार्थियोंका जीवन अधिक-से-अधिक सादा और निर्मल रहे, ऐसी चेष्टा हो।

१०-जहाँतक हो शिक्षा देशी भाषामें देनेकी व्यवस्था की जाय।

११-अध्यापक और छात्रावासके व्यवस्थापक ऐसे सज्जन हों जो स्वयं सदाचारी, धार्मिक, ईश्वरमें विश्वासी, विलासिताके विरोधी और मितव्ययी हों। (याद रहे, अध्यापकों और व्यवस्थापकोंके चरित्रका प्रभाव बालकोंपर सबसे अधिक पड़ता है।)

१२-सभी शिक्षालयोंमें कुछ-न-कुछ हाथकी कारीगरीका काम जरूर सिखाया जाय, जिससे कॉलेजोंसे निकले हुए विद्यार्थी शारीरिक परिश्रम तथा कारीगरीका काम हाथसे करनेमें सकुचावें नहीं, वरं सम्मानका अनुभव करें।

१३-छात्रावास बहुत सादे और संयमके नियमोंसे पूर्ण हों। वहाँ विद्यार्थीगण यथासाध्य सभी काम हाथसे करें, जिससे घर आनेपर हाथसे काम करना बुरा न मालूम हो। तन-मनसे पवित्र रहनेकी आदत डाली जाय। शरीरकी सफाई देशी तरीकेसे की जाय। अवकाशके समय कथा आदिकी व्यवस्था हो।

१४-जहाँतक हो, स्कूल-कॉलेज प्राकृतिक शोभायुक्त स्थानोंमें हों, खास करके पवित्र नदीके तटपर, उनमें यथासाध्य खर्चीला सामान, विदेशी फैशनका फरनीचर आदि न रहे।

१५-माता-पिता, गुरुके प्रति आदर-बुद्धि हो, उनका सेवन और पोषण करना कर्तव्य समझा जाय, किसीका भी

अनादर न हो, किसीका मखौल न उड़ाया जाय। ऐसी शिक्षा बालकोंको दी जाय।

१६-लड़के-लड़कियोंको एक साथ बिलकुल न पढ़ाया जाय।

१७-लड़कियोंको पढ़ानेके लिये सदाचारिणी और सद्‌गृहस्था अध्यापिका ही रहें और कन्यापाठशालाओंकी पढ़ाई स्वतन्त्र रहे तथा पढ़ाईका समय भी गृहस्थकी सुविधाके अनुकूल हो।

१८-लड़कियोंकी शिक्षामें इस बातका प्रधानरूपसे ध्यान रखा जाय कि बड़ी होनेपर उनके सतीत्व, मातृत्व और सद्‌गृहिणीपनका नाश न होकर पूर्ण विकास हो।

१९-आर्य संस्कृतिके अनुकूल सद्‌व्यवहार, सेवा-शुश्रूषा और आहार-व्यवहारकी शिक्षा पाठ्य-पुस्तकोंमें रहे।

२०-सात्त्विक त्याग, तितिक्षा और सात्त्विक दानकी शिक्षा दी जाय।

२१-बलका संचय और सदुपयोग करना सिखाया जाय।

क्षमा-प्रार्थना

दोष देखना एक घृणित कार्य है और इसलिये कर्तव्यवश इस कार्यको करनेवाला मैं अपना दोष स्वीकार करता हूँ और उन महानुभावोंसे सविनय क्षमा चाहता हूँ जिनको इस लेखके पढ़नेपर कुछ भी मेरा अपराध जान पड़े। एक बात और है, इस लेखसे मेरा यह मतलब कदापि नहीं है कि मैं पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त पुरुष और स्त्रीमात्रको ही उपर्युक्त दोषोंसे युक्त मानता हूँ। मुझे ऐसे बहुत-से नर-रत्नों और पूज्य पुरुषोंसे परिचय करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है जो इस शिक्षामें बहुत आगे बढ़े हुए होनेपर भी सब तरहसे आदर्श हैं और तपस्वी-जीवन बिता

रहे हैं। ऐसी माताओं और बहिनोंको भी मैं जानता हूँ जो पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त होनेपर भी परम सती-साध्वी हैं और ईश्वर, धर्म तथा सदाचारमें परम श्रद्धा रखती हैं। परिचय तो थोड़ेसे ही होता है। मुझसे अपरिचित पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त पुरुषोंमें ऐसे अनेकों शुद्ध संस्कारी, महानुभाव और अनेकों पवित्रहृदया बहिनें होंगी जिनके सामने मुझे श्रद्धापूर्वक सिर झुका देना चाहिये; परंतु मेरी समझसे इनमें अधिकांश वही हैं जो अधिक उम्रके हैं या जो सौभाग्यसे घरके या सत्संगके शुद्ध वातावरणमें रहे हैं और माता-पिताके शुद्ध आदर्शको लड़कपनमें देखा है। तरुणवयस्क आजके छात्रों और छात्राओंमें तो ऐसे पुरुषों और स्त्रियोंकी संख्या क्रमशः घटती ही जा रही है, यह सभी स्वीकार करेंगे और प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी यही सिद्ध है।

मैं जानता हूँ कि शिक्षाक्षेत्रके पूज्य पुरुष और मनीषीगण इनसे भी अच्छी-अच्छी बातोंको सोचते-विचारते हैं और उन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेकी चेष्टा भी करते हैं। कहना सहज है, परंतु परिस्थितिका सामना करते हुए वैसा करना बहुत ही कठिन है, इस बातका मैं भी अनुभव करता हूँ तथापि अपनी ओरसे बालककी भाँति पूज्य पुरुषोंके चरणोंमें नम्रताके साथ विचारार्थ उपर्युक्त बातें रखता हूँ। आशा है वे मेरी इस अनधिकार चेष्टा और धृष्टतापर क्षमा करेंगे।

वर्तमान बुरी स्थिति और उसे दूर करनेके लिये धार्मिक शिक्षा आवश्यक

(श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्यजीके दीक्षान्त भाषणसे)

[आगरा विश्वविद्यालयके उनतीसवें दीक्षान्त-समारोहमें प्रसिद्ध राजनीतिक नेता, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्य महोदयने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया, उसका सार नीचे दिया जाता है। भाषण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथा समयोपयोगी है। हमारी वर्तमान बुरी स्थितिका दिग्दर्शन करानेके साथ ही उसके दूर करनेके सुन्दर उपाय भी उसमें बतलाये गये हैं। हमारा देश स्वतन्त्र हो गया, शिक्षाका पर्याप्त प्रचार हो रहा है; कारखाने बन रहे हैं, सड़कों-पुलोंका भी निर्माण हो रहा है और देशके सर्वतोमुखी विकासकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ काममें लायी जा रही हैं, परंतु देशका चारित्रिक स्तर सर्वत्र बड़ी तेजीसे गिर रहा है, यह सबसे बड़ी हानि है और वर्तमानमें हमलोग अर्थ और अधिकारके पीछे इतने पागल हो रहे हैं कि हम मानो उच्च चरित-निर्माणकी आवश्यकताको भूल ही गये हैं। इस परिस्थितिमें राजाजीका यह भाषण अत्यन्त सामयिक एवं मनन करनेयोग्य है।—**सम्पादक**]

परमात्माकी विस्मृति

आजके युगमें आरम्भसे अन्ततक एक यही विषय है कि हम परमपिता परमात्माको भूल गये हैं। ये शब्द प्रसिद्ध विद्वान् कार्लाइलके हैं, जो उन्होंने विज्ञान और साम्राज्यवादके विस्तारके फलस्वरूप पाश्चात्य जगत्के मानवमात्रकी धातुप्रियता तथा कलहप्रिय प्रवृत्तिसे दुःखी होकर कहे थे। साम्राज्य अब विश्वके मानचित्रसे गायब हो

गये हैं और विज्ञान भी अपनी चरम सीमाको पार कर चुका है। अतः पश्चिममें एक नवीन ज्ञानज्योतिका प्रादुर्भाव हो रहा है। परंतु हम पूर्वनिवासी अब भी शासन और विधायकोंके अंदर प्रभुको विस्मृत करते जानेकी प्रवृत्ति देखते हैं, जिसकी निन्दा कार्लाइलने अपने समयमें की थी। मैं राष्ट्रीय विकासके लिये आधारभूत इस महत्त्वपूर्ण सत्यकी ओर विचारकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

श्रेष्ठ चरित्रकी अनिवार्य आवश्यकता

चरित्रका अच्छा होना शारीरिक शक्ति एवं बुद्धिकी प्रखरतासे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। देशके अंदर शान्ति-स्थापना एवं बाहरी आक्रमणसे उसकी रक्षाके निमित्त नागरिक प्रशासन तथा सैनिक व्यवस्थाके लिये जनसमुदायमेंसे पर्याप्त संख्यामें लोगोंका शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिसे शक्तिशाली होना आवश्यक है; किंतु देशकी उन्नति तथा चतुर्मुखी विकासके लिये जीवनके दैनिक कार्योंको मिल-जुलकर एक-दूसरेके सहयोगसे करनेवाले समस्त नागरिकोंके चरित्रका अच्छा होना नितान्त अनिवार्य है। चरित्र वह भूमि है, जहाँ अन्य सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। यदि वही खराब है तो सभी कुछ खराब होगा। मनुष्यको ईमानदार, वचनका पालन करनेवाला, सबके प्रति दयालु तथा एक-दूसरेके प्रति किये गये वायदोंको निभानेवाला और अपने निजी स्वार्थोंसे अधिक दैवी गुणोंका मूल्य करनेवाला होना चाहिये।

बुरी प्रवृत्तियोंकी वृद्धि

आजके स्कूलों और कॉलेजोंमें दी जानेवाली उच्च शिक्षा भी चरित्र-निर्माणमें सहायक नहीं है। हमारे देशमें चल रही वर्तमान प्रवृत्तिको देखकर कोई भी उज्ज्वल भविष्यकी निश्चित कल्पना

नहीं कर सकता। यह सत्य है कि मैं इन दिनों चिन्तायुक्त हूँ। हम अपने चारों ओर प्रत्येकको थोड़ा-सा ज्ञान और थोड़ी-सी शिक्षा प्राप्तकर येन-केन-प्रकारेण धनप्राप्तिकी इच्छा करते हुए देखते हैं। गांधीवादी सत्य-अहिंसात्मक एवं आत्मिक विकासके आन्दोलनद्वारा प्राप्त स्वतन्त्रता, सम्मान एवं प्रशासनिक उत्तरदायित्व वहन करनेके बाद हमें आशा रखनी चाहिये थी कि लोगोंका जीवनके प्रति दृष्टिकोण बदलेगा, किंतु आशाके विपरीत धोखा देने और झूठे बाह्य प्रदर्शनकी प्रवृत्तियोंकी वृद्धि होती दिखायी दे रही है।

छात्रोंमें कर्तव्यपालनकी भावना आवश्यक

छात्रोंमें वर्तमान समयके शिक्षित लोगोंकी अपेक्षा अधिक कर्तव्यपालनकी भावना होनी चाहिये। राष्ट्रकी स्थितिको सुधारनेके लिये छात्रोंको भौतिक प्रलोभनों एवं निजी स्वार्थोंके आकर्षणसे दूर रहना चाहिये। यदि इस सिद्धान्तको पूर्ण गम्भीरता एवं राष्ट्रके लिये जीवन-मरणके प्रश्नकी भाँति स्वीकार कर लिया गया तो यह हमारी शिक्षानीतिमें तुरंत परिवर्तन लानेका आधार बन जायगा।

मानव-सभ्यताका मूल धर्म ही है

यदि हम निष्पक्ष दृष्टिसे देखें तो यह स्पष्ट है कि कुछ त्रुटियोंके रहते हुए भी संसारमें धर्म ही मनुष्यको सदा विनाश और रोगोंके पथसे बचाता रहता है। यह तथ्य हम संसारमें मानवसमाजके सामाजिक तथा आर्थिक इतिहासको देखकर प्रमाणित कर सकते हैं कि धर्म ही मनुष्यको क्रियाशील सहयोगी जीवन बितानेके लिये प्रोत्साहित करता आया है। सम्पूर्ण मानव-सभ्यताका मूल धर्म ही है। यदि हम स्कूलों और कॉलिजोंसे धार्मिक शिक्षाको दूर कर दें तो हम सार्वजनिक चरित्रका निर्माण कदापि नहीं कर सकते। हमने अन्धविश्वासोंको धर्मकी संज्ञा देकर बालकोंके घरेलू जीवनसे भी

धर्मको अलग कर दिया है—यहाँतक कि छात्रोंकी विद्यालयोंमें उपस्थितिने उनके घरोंमें मनायी जानेवाली धार्मिक क्रियाओंको सम्पादित करना भी उनके लिये असम्भव बना दिया है। इस प्रकार हमने वर्तमान शिक्षापद्धतिके कारण अपनेको धर्मके लिये एक खोखली दीवाल बना रखा है। यही दशा रही तो हम अनिवार्यरूपसे बुरे-से-बुरे होते चले जायँगे। हम यह स्वीकार तो करते हैं कि हमें युवकोंके जीवनमें पवित्रता तथा बुराईसे दूर रहनेकी भावनाका विकास करना चाहिये, परंतु इसके लिये हम किंचिन्मात्र भी प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। हमें ऐसे साधन उपलब्ध करने होंगे कि जिनकी सहायतासे उन उद्देश्योंकी पूर्ति की जा सके।

छात्रोंके मस्तिष्कसे सर्वशक्तिमान् प्रभुकी भावना दूर करनेका हमारा प्रयास

वास्तविकता यह है कि वर्तमान शिक्षा छात्रोंके अंदर रटने तथा रटी हुई बातोंका परीक्षामें प्रदर्शन करके उपाधि प्राप्त करनेकी आदत डालती है। हमने विकासोन्मुख तरुणों और तरुणियोंके चरित्रको वर्तमान शिक्षाद्वारा खोखला बना डाला है। जब उनके चरित्रके अन्दर हमारे द्वारा प्रवेश कराया हुआ यह भयानक रोग अनुशासनहीनताके रूपमें फूट पड़ता है, तब हम उसकी निन्दा करने लगते हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभु ही संसारपर शासन कर रहे हैं—इस विचारको क्या हम युवक और युवतियोंके मस्तिष्कसे दूर रखनेका प्रयास नहीं कर रहे हैं?

छात्रोंमें दैवी गुणोंके विकासके लिये धार्मिक शिक्षाकी अनिवार्य आवश्यकता

शिक्षाका सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य छात्रोंमें दैवी गुणों तथा कर्तव्यपरायणताका विकास करना है। धार्मिक शिक्षा इस

उद्‌देश्यकी पूर्तिमें सहायक होगी। नवयुवकोंको बुरी बातों तथा अवांछनीय आचरणकी प्रवृत्तिसे दूर रहना सिखाना चाहिये। यदि हमने स्कूलोंमें धार्मिक शिक्षा प्रदान न की तो इन गुणोंका आविर्भाव हम नागरिकोंमें नहीं कर सकते। विभिन्न धार्मिक मान्यताओंको समाप्तकर उनके चलानेवालोंको केवल कल्पित व्यक्ति मानना विनाशकारी है। ईसा-मसीह, भगवान् बुद्ध, मुहम्मद साहब, भगवान् राम, कृष्ण आदिको यदि हम भौतिक दृष्टिकोणसे केवल कल्पित व्यक्ति ही मान लें तो ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध तथा हिंदू-धर्मोंमें रह ही क्या जायगा।

राष्ट्रिय चरित्रका ह्रास न हो, इसके लिये हमें प्रत्येक छात्रको स्कूलमें उसके अपने पारिवारिक धर्ममें दीक्षित करना होगा। इस कार्यसे अव्यावहारिकता कहीं नहीं है। विज्ञानको संसारने एक बार विजेताके रूपमें प्रदर्शित किया था, परंतु अब वही विज्ञान धर्मका सबसे बड़ा सहयोगी है। उच्च विज्ञान भौतिकवादके दृष्टिकोणको त्यागकर अब आत्मिक विकास तथा उपनिषदोंकी भाँति देवत्वकी ओर ले जानेवाला बना रहा है, किंतु विज्ञान धार्मिक विश्वास और दैवी गुणोंके विकासमें तभी सहायक हो सकता है, जब मनुष्यको बचपनमें ही उसके अनुकूल शिक्षित किया जाय। मेरी कामना है कि हम भारतीय केवल भौतिक चमक-दमक एवं बाह्य प्रसन्नताके चक्करमें ही न पड़े रहें; परंतु यह सब बिना धर्मके नहीं हो सकता। इसलिये चरित्रवान् भारतीयोंके निर्माणके लिये स्कूलोंमें प्रत्येक लड़के और लड़कीको धार्मिक शिक्षा देना अनिवार्य होना चाहिये।